

आदिवासी जीवन का गंभीर और संवेदनात्मक चिंतन : न्यूटन

निशान्त मिश्रा

वरिष्ठ शोधार्थी, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य म. गां. अं. हिं. वि. वर्धा, महाराष्ट्र

22 सितंबर 2017 ई. को भारतीय सिनेमा के फ़लक पर 'अमित मसूरकर' द्वारा निर्देशित फिल्म 'न्यूटन' का प्रदार्पण होता है। यह फिल्म सन् 2012 ई. में 'प्रकाश झा' द्वारा निर्देशित फिल्म 'चक्रव्यूह' का अगला कदम या विकास प्रतीत होती है। हिंदी सिनेमा के क्षितिज पर 'चक्रव्यूह' फिल्म आदिवासी प्रतिरोध के स्वर को लेकर उपस्थित हुई थी। फिल्म में आदिवासी जीवन के बहुविध आयामों के साथ 'नक्सलवाद' की समस्या को उकेरा गया था। 'न्यूटन' फिल्म इस समस्या का रेखांकन करने के साथ-साथ इसके निराकरण के सूत्र भी छोड़ती चलती है। फिल्म के प्रारम्भ में ही उस नक्सली मुठभेड़ का निरूपण किया गया है जो आज भी आए दिन घटित हो रही है। इस समस्या से देश के लगभग 20 राज्य और 220 जिले प्रभावित हैं। साथ ही अन्य जिलों में भी इस समस्या के पाँव तेजी से बढ़ रहे हैं। इस समस्या का निराकरण जो फिल्म प्रदर्शित करती है, वह है – संवेदनशील व्यवहार और ईमानदारी के साथ किया गया अपना कर्तव्य निर्वहन। फिल्म में चुनाव अधिकारी (संजय मिश्रा) का इस संदर्भ में वक्तव्य है कि – “नक्सलियों को सिर्फ एक ही अस्त्र मिटा सकता है और वो हथियार है हमारे पास - वोटिंग मशीन। लेकिन हम सब का एक ही मोटिव होना चाहिए – फ्री एंड फेयर इलेक्शन।” अर्थात् नक्सलियों का लोकतंत्र में विश्वास अर्जित करके ही इस समस्या को खत्म किया जा सकता है। जब तक उनके भीतर लोकतंत्र के प्रति अविश्वास बना रहेगा तब तक देश इस समस्या से जूझता रहेगा।

और यह विश्वास अर्जित कैसे किया जाए ! इस संदर्भ में भी फिल्म दर्शकों से रूबरू होती है। मुख्य चुनाव आयुक्त ही इस संदर्भ में फिल्म के मुख्य पात्र 'न्यूटन' उर्फ नूतन कुमार (राजकुमार राव) से कहता है कि – “ईमानदारी से दिल हल्का होता है। दिल पर बोझ नहीं होता है। तो आप नेचुरल तरीके से अपनी ईमानदारी का काम करते जाइए, करते जाइए। देश खुद-ब-खुद प्रगति करता चला जाएगा।” साथ ही खत्म हो जाएगी घुन रूपी नक्सलवाद की समस्या भी, जो कि भीतर-ही-भीतर देश को खोखला करती चली जा रही है। क्योंकि यदि हम नक्सलवाद की जड़ तक जाएँ तो हम यह सहज ही लक्षित कर सकते हैं कि इसका उद्गम कर्तव्यों के ईमानदारीपूर्वक निर्वहित न होने से है। उदाहरणार्थ आदिवासियों को शिक्षित करने की सैकड़ों परियोजनाएँ केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा परिचालित की जाती हैं, बावजूद इसके आदिवासी शिक्षा का प्रतिशत 2011 की जनगणना के अनुसार 59 प्रतिशत ही है। जबकि देश का साक्षरता प्रतिशत 74.04 प्रतिशत है। ऐसा इसलिए है क्योंकि आदिवासी शैक्षिक योजनाओं का ईमानदारी पूर्वक निर्वहन नहीं किया जाता। रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी शैक्षिक विकास की नीतियों के कडवे यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है। गौर करने की बात है कि जिन आदिवासी असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर आदिम बच्चियों की शिक्षा के लिए 'पाथरपाट' विद्यालय बना था, उस स्कूल में एक भी आदिवासी बच्चे को प्रवेश नहीं मिला था। उपन्यास के पात्र 'रूमझुम असुर' के शब्दों में – “पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो !” 1. क्या यह आदिवासी शिक्षा

योजना का मज़ाक नहीं है ?

विडंबना इससे भी बढ़कर भयावह है। यहाँ तो स्कूल में आदिवासी बच्चों को प्रवेश न मिलने का प्रश्न ही है किंतु उसके लिए क्या कहा जाए जहाँ स्कूल सिर्फ कागजों पर चलता हो ? 'राकेश कुमार सिंह' के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में इसी त्रासदी पर प्रकाश डाला गया है। उपन्यास में बिहार और झारखंड को शिक्षित करने के लिए 'स्पीड' संस्था द्वारा करोड़ों रुपये उपलब्ध करवाए जाते हैं। 'स्पीड' की मुख्य चिंता सुदूर देहात है जहाँ शिक्षा जितनी आवश्यक है उतनी ही दुर्लभ और अनुपलब्ध भी। 'प्राथमिक विद्यालय, गजलीठोरी' ऐसा ही पायलट प्रोजेक्ट है 'स्पीड' परियोजना का। किंतु उसकी वास्तविक हकीकत क्या है ? इसे उस विद्यालय में नियुक्ति लेने गए अध्यापक 'संजीव' के शब्दों में देखिए – “यानी प्राथमिक विद्यालय गजलीठोरी ... यानी यहाँ इस नाम का स्कूल ही नहीं है ? ... पर मुझे तो बाकायदा नियुक्तिपत्र मिला है भाई !” 2. अब ऐसी परिस्थितियों में कागजों पर जरूर आदिवासी शिक्षित होंगे किंतु धरातल पर यह महज दिवास्वप्न है और कुछ नहीं।

इसी कारण आदिवासी शिक्षा का स्तर सुधर नहीं रहा है और साथ ही फैल रहा है आदिवासी असंतोष। और इसका कारण है स्वार्थलोलुप आत्मकेंद्रित उपभोक्तावादी दृष्टि। इस दृष्टि से परिचालित होने के फलस्वरूप ही व्यक्ति अपने कर्तव्य का ईमानदारीपूर्वक निर्वहन नहीं करता और अव्यवस्था एवं असमानता को जन्म देता है। फलतः समस्याएँ बढ़ती जाती हैं जिसकी परिणति नक्सलवाद जैसी समस्या के रूप में होती है। नक्सलवाद क्या है ? जब इस प्रश्न पर हम विचार करते हैं तो आज से 50 वर्ष पूर्व की बंगाल के नक्सलवाड़ी गाँव में घटित वह घटना हमारे जेहन में उभर आती है जिसमें गरीब मजदूर-किसानों ने जमीन के हक में लड़ाई के लिए जमींदार को ही मार डाला था। अर्थात् अपने हक की लड़ाई के रूप में उपजा था यह आंदोलन। किंतु अपने विकास-क्रम में यह आंदोलन कई तरह की विसंगतियों का शिकार होता गया और आज इसे देश के लिए सबसे बड़ा खतरा माना जा रहा है। किंतु इसके उग्र व हिंसक होने के पीछे के कारणों की यदि हम पड़ताल करें तो उदारवाद, निजीकरण और वैश्वीकरण को स्पष्ट रूप से चिन्हित किया जा सकता है। दरअसल, - “नवउदारतावादी अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावाद के गठबंधन ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अनायास ही यह अधिकार दे दिया है कि विकास के नाम पर मदद हेतु वे तीसरी दुनिया के तम्बू में ऊँट की भाँति पाँव पसारे और फिर मूल निवासियों को ही वहाँ से खदेड़ दें। झारखंड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में खनन कंपनियों की लूट को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।” 3. यहीं पर नक्सली मुठभेड़ की सर्वाधिक घटनाएँ भी घटित होती हैं। कारण कि खनिज लूट और तदजनित विस्थापन से प्रभावित लोगों की सर्वाधिक संख्या इन्हीं राज्यों में निवास कर रही है। फिल्म के केंद्र में भी छत्तीसगढ़ राज्य के दंतेवाड़ा जिले का दृश्यांकन है।

चुनाव कराने के उपक्रम में जब 'न्यूटन' दंतेवाड़ा जिले में प्रवेश करता है तो वह उपरोक्त परिस्थितियों से परिचित होता है। वहाँ का आर्मी ऑफिसर दंतेवाड़ा को पाकिस्तान नाम से संबोधित करता है। कारण पूछने पर अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहता है कि – “भगवान जाने साहब। मेरे आने के पहले से ही लोग कहते हैं। दुश्मन हैं न तो पाकिस्तान।” यहाँ पर काबिल-ए-गौर है कि यदि पाकिस्तान की समस्या और नक्सलवाद की समस्या में अंतर को भलीभाँति नहीं समझा जा रहा है तो उसका उचित निस्तारण कैसे संभव होगा ! पहली यदि प्रायोजित समस्या है तो दूसरी आंतरिक समस्याओं से प्रस्फुटित समस्या है। इस महत्वपूर्ण अंतर को अनदेखा करके नक्सलवाद की समस्या से निजात पाना महज दिवा-स्वप्न के और कुछ नहीं है। यह ठीक वैसे ही होगा जैसे कि सिर दर्द में पेट दर्द की दवा खाना। जो दर्द से कुछ समय के लिए हो सकता है राहत तो दिलाए, किंतु उचित उपचार कभी नहीं कर सकेगी। फलस्वरूप दर्द पुनः कुछ अंतराल पर दुगुनी गति से बढ़ता जाएगा। हमें इस प्रश्न पर गंभीरता एवं संवेदनापूर्ण ढंग से विचार करना होगा कि – ‘आदिवासी क्षेत्रों में नक्सलवाद नासूर क्यों बना है ?’ आदिवासी चिंतक 'रमेश चन्द्र मीणा' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि – “इसका सीधा-सा जवाब है विकास के नाम पर आदिवासी का सदियों निवास

स्थान रहे जंगल व पहाड़ का छीना जाना। जिन्हें पुनर्वास के नाम पर आश्वासन के सिवा कुछ नहीं मिल पाता है। ऐसे आदिवासी अपनी जमीन से उखड़कर विस्थापन व भुखमरी के शिकार होते रहे हैं। सरकारी मशीनरी आदिवासी का मनमाना शोषण, अत्याचार और लगातार अन्याय करती रही है। जब व्यवस्थागत शोषण को सहने की ताकत खत्म हो जाती है तथा पेट की भूख असहनीय हो उठती है तब ही आदिवासी नक्सलवादियों के तर्क से सहमत होने पर मजबूर होते हैं।” 4.

यह अकारण नहीं है कि नक्सलवादी उन्हीं क्षेत्रों में प्रमुख रूप से सक्रिय हैं जहां पर खनिज-संसाधनों की और विस्थापितों की भरमार है। “यह बात इसलिए दमदार है कि जहां गत वर्षों में नक्सलवाद ने उग्र व हिंसक रूप धारण किया है, वे सारे इलाके प्राकृतिक सम्पदा से समृद्ध रहे हैं और इन्हीं इलाकों का दोहन विकास के नाम पर किया जा रहा है।” 5. चूंकि विकास का स्वरूप असंगत और संकुचित है अतः असंतोष के स्वर स्वतः प्रस्फुटित हो रहे हैं जो कि नक्सलवाद के लिए आमंत्रण-पत्र का कार्य करते हैं। “सघन कोयला खनिज संसाधनों और नक्सली हिंसा के बीच गहरा रिश्ता रहा है। माना जाता है कि किसी क्षेत्र में नक्सली अपना आंदोलन शुरू करने से पहले एक व्यापक सामाजिक-आर्थिक सर्वे करते हैं, फिर अपनी गतिविधियां शुरू करते हैं।” 6. जिसका अंततः लक्ष्य ‘रेड कॉरिडोर’ स्थापित करना होता है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए आदिवासी चिंतक ‘हरिराम मीणा’ लिखते हैं कि – “नक्सलवादियों द्वारा चिन्हित किये गये क्षेत्रों में अपनी गतिविधियां बढ़ाने के लिये प्रथम चरण में संभावित क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया जाता है और उस क्षेत्र में गतिविधियों के संचालन के लिये बाकायदा योजना बनाई जाती है। ये वो क्षेत्र होते हैं जहां सरकार के विरुद्ध लोगों में आधारभूत सुविधाओं के अभाव के कारण असंतोष व्याप्त रहता है। दूसरे चरण में ऐसे अंचलों में कार्यकर्ता भेजे जाते हैं जो अपने संगठनात्मक केंद्र स्थापित करते हैं और प्रतिरोध-आंदोलन तथा सहकारी समितियों के माध्यम से आर्थिक सामाजिक कार्य-कलाप आरम्भ करते हैं। इसी चरण में राजनैतिक विचारधारा के बारे में जागृति फैलाने का प्रयास किया जाता है। तीसरा चरण संघर्ष का होता है जिसमें लोगों को सरकार के विरुद्ध उकसाया जाता है ताकि वे आंदोलन से सीधे जुड़ सकें। इसमें क्रांति का संकल्प, जन-आंदोलनों की शुरुआत, माओवादी विचारधारा के माध्यम से लोगों के दृष्टिकोण में बदलाव तथा कैडर में ताजा भर्ती की जाती है। चौथा चरण छापामार युद्ध से सम्बन्ध रखता है जिससे सरकारी प्रतिनिधियों को इलाका छोड़ने के लिये विवश किया जाता है, पुलिस केन्द्रों में हमले किये जाते हैं एवं आवश्यक हुआ तो राजनैतिक हत्याएँ भी की जाती हैं ताकि सरकारी व्यवस्था से जुड़ी कोई संस्था या व्यक्ति उस इलाके को छोड़ने के लिये विवश हो जाये। पांचवे व अंतिम चरण में मुक्त क्षेत्र बनाया जाता है जिसे ‘रेड कोरिडोर’ के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र में नक्सलवादियों का पूरी तरह से अधिकार व वर्चस्व स्थापित होता है।” 7. फिल्म में चित्रित दंतेवाड़ा ‘रेड कोरिडोर’ के अंतर्गत ही आने वाला क्षेत्र है। यही कारण है कि असिस्टेंट कमांडेंट ‘आत्मा सिंह’ (पंकज त्रिपाठी) ‘कोडनार’ में चुनाव कराने आए प्रोसीडिंग ऑफिसर ‘न्यूटन’ से कहता है कि – “यहाँ तक आ गए हैं। बहुत है। ठीक है। आगे इलाका सेफ नहीं है। हमारे आदमी जाकर वोट ले आएंगे।” किंतु ‘न्यूटन’ की कर्तव्यपरायणता से पराजित होकर अंततः ‘आत्मा सिंह’ को ‘कोडनार’ तक जाना ही पड़ता है।

‘कोडनार’ पहुँचने पर बहुत ही भयावह परिस्थितियों से ‘न्यूटन’ और चुनाव कराने आई उसकी टीम का साक्षात्कार होता है। जले हुए घर और वीरान बस्ती के अतिरिक्त और कुछ भी वहाँ नहीं होता है। प्राथमिक विद्यालय भी पूर्णतः उजाड़ होता है। इन परिस्थितियों के अवलोकन के पश्चात् ‘न्यूटन’ आत्मा सिंह से पूछता है कि – “लोगों के घर किसने जलाएँ।” आत्मा सिंह जवाब देता है कि – “किसी ने भी जलाएँ हों। अब शांति है, सब कंट्रोल में है।” न्यूटन जवाब से संतुष्ट न होकर पुनः प्रश्न करता है कि – “लोगों के घर जलाकर कैपों में भेजने का आइडिया किसका था ?” ‘आत्मा सिंह’ झल्लाते हुए कहता है कि – “अरे, न्यूटन

बाबू ! आप चुनाव कराने आए हो । चुनाव कराओ । रिसर्च बाद में कर लेना ।” इस संदर्भ में ‘अरुंधति रॉय’ द्वारा सन् 2010 ई. में छत्तीसगढ़ राज्य के ही ‘दंतेवाड़ा’ क्षेत्र में कॉमरेडों के साथ की गई यात्रा की रिपोर्ट उल्लेखनीय है । जिसमें उन्होंने घर जलाए जाने के कारणों की शिनाख्त करते हुए लिखा है कि – “पिछले पाँचेक वर्षों के दौरान छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल की सरकारों ने इस्पात कारखानों, कच्चे लोहे के कारखानों, बिजली-घरों, ऐल्युमिनियम संशोधन संयंत्रों, बाँधों और खदानों के लिए कॉरपोरेट घरानों से सैकड़ों करोड़ों रुपये-आने-पाई में तब्दील हो सकें, इसलिए जन-जातियों का हटाया जाना जरूरी है । लिहाजा, यह जंग ।” 8. जिसमें वे अपना घर-परिवार सब खोकर या तो सरकारी कैदों में रहने को विवश हैं या फिर हथियार उठाने को अभिशप्त हैं । दोनों ही स्थितियों में वे त्रासद और निर्वासित जीवन जीने को विवश हैं । “चिंतन के एक विषय के रूप में निर्वासन जितना ही आकर्षक लगता है, अनुभव के स्तर पर यह उतना ही भयावह होता है । निर्वासन नाम है उस टूटन का जो किसी मनुष्य और उसकी जन्मभूमि, उसके अपने स्व और इस स्व के वास्तविक आश्रय के बीच घटित होता है । यह एक ऐसा घाव होता है जो कभी भी भर नहीं पाता, इसके अंतर्तम में छिपी व्यथा से पार पाना असम्भव होता है ।” 9.

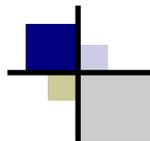
यही कारण है कि आदिवासी किसी भी परिस्थिति में सहज महसूस नहीं करते । न ही वे सरकार के साथ सुकून महसूस कर पाते हैं और न ही नक्सलियों के साथ ही राहत महसूस कर पाते हैं । वे इन दो पांटों के बीच बुरी तरह पिसने को अभिशप्त हैं । फिल्म में आदिवासी शिक्षिका ‘मलको’ (अंजली पाटिल) ‘न्यूटन’ से इसी आदिवासी व्यथा को रूपायित करते हुए कहती है कि – “वोट देंगे तो माओवादी परेशान करेंगे और नहीं देंगे तो पुलिस । कोई इन्हें नहीं पूछता कि इन्हें क्या चाहिए ।” इस पर जब ‘न्यूटन’ यह जानना चाहता है कि उन्हें क्या चाहिए तो ‘मलको’ जवाब देती हुई कहती है कि – “इन्हें दोनों से छुटकारा चाहिए ।” और यह छुटकारा तभी संभव है जब सरकार अपनी स्वार्थ लोलुप दृष्टि त्यागकर आदिवासी क्षेत्रों में अनावश्यक हस्तक्षेप बंद करे । साथ ही, आवश्यक हस्तक्षेप का क्रियान्वयन उनकी सहभागिता के साथ पूर्ण समर्पण के साथ करें । ऐसा करने से आदिवासी असंतोष स्वतः ही समाप्त हो जाएगा और नक्सलवाद के भी पुष्पवित-पल्लवित होने के कारक काल के गाल में समा जाएंगे । किंतु ऐसा एक ही दिन में संभव नहीं हो पाएगा । जैसा कि फिल्म की पात्र ‘मलको’ कहती है कि – “सर ! कोई भी बड़ा काम एक दिन में नहीं होता । सालों लग जाते हैं जंगल बनने में ।”

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहें तो फिल्म ‘नक्सलवाद’ जैसे गंभीर और महत्वपूर्ण मुद्दे पर बहुत ही विवेकपूर्ण और आकर्षक ढंग से समाज का ध्यान आकर्षित करती है । साथ ही, यह विवेक भी निर्मित करती है कि – “आधुनिक आर्थिक विकास की प्रक्रिया से आदिवासियों को जोड़ने में व्यवस्थागत असफलता रही है । यही कारण रहा कि उनका बाकायदा शोषण और सामाजिक व आर्थिक स्तर पर उनके साथ अन्याय हुआ । आदिवासियों द्वारा जिन समस्याओं का सामना किया जा रहा है वे बहुत ही पेचीदा हैं और उनका समाधान हमें सही समझ और सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाते हुए करना चाहिए । अरसे से वे समाज की मुख्य धारा से अलग रहे । इसीलिए आज यह नक्सलवाद जैसी खतरनाक स्थिति सामने आयी है । अब समय आ गया है कि हम उन्हें अपने दिल के नजदीक लायें । आदिवासी क्षेत्रों में नक्सलवादी जो हिंसक आंदोलन चल रहा है वह अंततः आदिवासियों को और भी दयनीय दशा में धकेल देगा ।” 10. क्योंकि सत्ता वर्ग द्वारा आतंकवाद और नक्सलवाद के बीच के अंतर को भलीभाँति नहीं समझा जा रहा है । फलस्वरूप समस्या का उचित समाधान संभव नहीं । और ‘सलवा जुडूम’ जैसा जो असंगत समाधान ढूँढा जा रहा है उसकी सार्थकता को स्वयं सुप्रीम कोर्ट ने ही खारिज कर दिया है । “पाँच जुलाई, 2011 को नंदिनी सुंदर बनाम छत्तीसगढ़ राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के दो न्यायधीशों की पीठ ने एक अहम फैसला सुनाते हुए नक्सल विरोधी अभियान के लिए विशेष पुलिस अफ़सरों (एसपीओ) की नियुक्ति को असंवैधानिक बता दिया । इतना ही नहीं, इस फैसले के अंतर्गत न्यायालय ने

राज्य द्वारा अपनायी गयी विकास नीति की भी आलोचना की तथा उदारीकरण की नीति पर भी सवाल उठाये ।” 11. स्पष्ट है कि नक्सलवाद का हल महज बंदूक के आधार पर नहीं निकाला जा सकता । आवश्यकता उन नीतियों को बदलने और परखने की भी है जिनसे यह समस्या नासूर बनती जा रही है । सिर्फ एसपीओ जैसे त्वरित संगठनों के निर्माण से यह समस्या खत्म होने वाली नहीं । फिल्म में भी इन विशेष पुलिस अफसरों की उपस्थिती ‘लखमा’ जैसे पात्रों के रूप में है । इस प्रकार फिल्म उन सभी पहलुओं पर गंभीरता से प्रकाश डालती है जो आदिवासी समस्याओं की जननी हैं । साथ ही, इन समस्याओं से निजात पाने के सूत्र भी फिल्म में यथास्थान उपस्थित हैं । आवश्यकता उन सूत्रों को पकड़ने और आत्मसात करने की है ।

संदर्भ सूची –

1. रणेन्द्र (2013), ग्लोबल गाँव के देवता, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ संख्या – 19.
2. सिंह, राकेश कुमार (2003), पठार पर कोहरा, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ संख्या – 81-82.
3. प्रधान संपादक. दुबे, अभय कुमार, प्रतिमान, जनवरी-जून 2013, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 218-219.
4. संपादक, मीणा, रमेश चन्द्र (2013), आदिवासी विमर्श, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ संख्या – 112.
5. मीणा, हरिराम (2013), आदिवासी दुनिया, नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृष्ठ संख्या – 154.
6. मीणा, हरिराम (2013), आदिवासी दुनिया, नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृष्ठ संख्या – 154.
7. मीणा, हरिराम (2013), आदिवासी दुनिया, नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृष्ठ संख्या – 157-158.
8. रॉय, अरुंधति (2012), भूमकाल कॉमरेडों के साथ, अनुवाद : नीलाभ, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 14.
9. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू (2015), वर्चस्व और प्रतिरोध, अनुवाद : रामकीर्ति शुक्ल, दिल्ली, नयी किताब, पृष्ठ संख्या – 376.
10. मीणा, हरिराम (2013), आदिवासी दुनिया, नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृष्ठ संख्या – 156.
11. प्रधान संपादक. दुबे, अभय कुमार, प्रतिमान, जनवरी-जून 2013, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 178.



Contributors Details :

निशान्त मिश्रा

वरिष्ठ शोधार्थी, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य

म. गां. अं. हिं. वि. वर्धा, महाराष्ट्र – 442001.

मो. – 9580660400, 9527530688.

ई. मेल – nishant11mishra@gmail.com